International Journal of Sanskrit Research 2024; 10(3): 110-116

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2024; 10(3): 110-116
© 2024 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 26-03-2024
Accepted: 30-04-2024

डॉ. सोमवीर सिंघल
सहायक आचार्य,
संस्कृत विभाग, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

Corresponding Author:
डॉ. सोमवीर सिंघल
सहायक आचार्य,
संस्कृत विभाग, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

पूर्वमीमांसा व बौद्धदर्शन में प्रत्यक्षप्रमाण विवेचन

डॉ. सोमवीर सिंघल

प्रस्तावना

पूर्वमीमांसादर्शन को वाक्यशास्त्र भी कहा जाता है। यज्ञ में विनियोग के लिए वैदिक वाक्यों की व्याख्या के लिए मीमांसाशास्त्र अर्थविज्ञान प्रस्तुत करता है। यज्ञपरक इस विशिष्ट अर्थविज्ञान की दृष्टि से इस शास्त्र का प्रमाण पक्ष महत्त्वपूर्ण है। न्यायशास्त्र के समान मीमांसाशास्त्र प्रमाण-प्रधान नहीं है।

जैमिनि सूत्र में प्रत्यक्ष का स्वरूपग्राही लक्षण एक ही सूत्र में निबद्ध है। वस्तुतः यह सूत्र धर्म की प्रत्यक्ष प्रमाण से अगम्यता को दर्शाने के लिए प्रयुक्त है। सूत्र के एक देश में जैमिनि-सम्मत प्रत्यक्ष लक्षण प्राप्त होता है।[1] आशय यह है कि जब पुरुष की इन्द्रियाँ विद्यमान वस्तु से सम्पर्क में आती हैं तब उसकी बुद्धि से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इस सूत्र के अर्थ में कुछ उद्भावित शंकाओं को लेकर कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक में विचार किया है। शंका यह है कि उक्त सूत्र में प्रत्यक्ष का लक्षण परिस्फुटित नहीं होता। यदि यह कहा जाए कि लक्षण आभासित होता है तब यह स्वप्नभान की भाँति असत्य हो सकता है। भ्रान्त्यादि ज्ञान में भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष हो सकता है लेकिन यह ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता।[2]

शबरस्वामी ने कहा है कि प्रत्यक्षपूर्वक होने से अनुमान, उपमान एवं अर्थापत्ति भी धर्म को जानने में अकारण या असमर्थ हैं।[3] सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द इन तीन प्रमाणों को जैमिनि ने स्वीकार किया है।[4] जैमिनि के सूत्रों के अध्ययन से यही विदित होता है कि प्रत्यक्ष एवं शब्द दोनों प्रमाण उन्हें अभीष्ट है। यह प्रत्यक्ष व्यापक था तथा प्रत्येक लौकिक विषय इससे गम्य था एवं स्वर्ग अपूर्व देवता आदि विषयों के ज्ञान का साधक शब्द था जो कि वेदमूलक है। मीमांसा के परवर्ती आचार्य जब मात्र याग यज्ञ आदि प्रयोग सापेक्ष मीमांसा से हटकर दार्शनिक एवं प्रमाणशास्त्रीय विषयों पर दृष्टि केन्द्रित करने लगे तब जैमिनी सूत्रों में प्राप्त बीजरूपी संकेतों के आधार पर उन्होंने प्रमाणशास्त्र को स्वतंत्र रूप प्रदान किया। 'तत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्' इस प्रकार उल्लेख किया है[5] कि प्रत्यक्ष के इस लक्षण में भ्रान्ति एवं संशय जैसे अयथार्थ ज्ञान का प्रवेश नहीं हो सकता। पार्थसारथि मिश्र ने वृत्तिकार के इस मत का समर्थन किया है।[6] परवर्ती भाट्टमत के आचार्य नारायण ने इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष के रूप में लक्षित किया है।[7] वृत्तिकार के मतानुसार पार्थसारथि मिश्र ने प्रत्यक्ष का जो विचार किया है वह अधिक स्पष्ट है। मीमांसामत में प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः माना गया है। उत्पन्न ज्ञान विषयानुरूप है या नहीं अर्थात् सूत्रोक्त 'संप्रयोग' यथार्थ है या नहीं- इसका नियामक क्या है।

पार्थसारथि का कहना है कि ज्ञान के स्वरूप से ही विषयरूप का निश्चय हो जाता है। परन्तु यदि उक्त ज्ञान विषयानुकूल नहीं है अर्थात् अन्यथा है तो उसके हेतु के रूप में कारण दोष अथवा अर्थ का भिन्नत्व जानना चाहिए। प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण के पश्चात् जिस स्थल में कारण दोष अथवा बाधक ज्ञान प्राप्त नहीं होता उसे प्रमाण स्वीकार करना होता है अन्यथा अप्रमाण है।[8] पार्थसारथि ने एक स्थान पर इन्द्रियों को अनुमान का विषय बताते हुए कहा है कि सुख आदि के साक्षात् ज्ञान से उसके जनक इन्द्रिय का अनुमान होता है क्योंकि रूपादि ज्ञान नित्य रूप से इन्द्रियाश्रित ही रहता है।[9] अन्यत्र उन्होंने कहा है कि विषय के साथ जिसके संयोग से स्पष्ट प्रतीतियुक्त ज्ञान उत्पन्न होता है, वह इन्द्रिय है।[10] इन दो स्थलों से प्रत्यक्ष की इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पत्ति, अपरोक्ष स्वरूप तथा वस्तुनिष्ठ स्पष्टता का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में लक्षण के रूप में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं- उसका इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होना एवं अपरोक्ष या साक्षात् होना। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यता लक्षण प्राचीनतर है।[11]

प्रत्यक्ष को प्रभाकर मिश्र ने साक्षात् प्रतीति के रूप में लक्षित किया है।[12] ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान- यह त्रिपुटी प्रत्येक प्रत्यक्ष में होना अनिवार्य है। प्रभाकर मीमांसा में यह सिद्धान्त त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद नाम से अभिप्रेत है। अर्थविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष से साक्षात् उत्पन्न होता है। प्रभाकर एवं कुमारिल दोनों के मतों में मन-युक्त छः इन्द्रियों से अर्थ का सन्निकर्ष होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञाता 'मैं जानता हूँ' इस रूप में विद्यमान रहता है जिसे न्याय में अनुव्यवसाय तथा सांख्य में पौरुषेयबोध कहा गया है। इस प्रकार कोई भी प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमिति को अपने में निहित रखता है।

प्रत्यक्ष प्रमा: इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को मीमांसादर्शन में प्रत्यक्ष स्वीकार किया गया है। भाट्टमीमांसा का इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पर बल है जबकि प्रभाकर मत का गुरुत्व इस ज्ञान के साक्षात्व के ऊपर है। जैमिनि सूत्र के धर्म की अप्रत्यक्षता सिद्धि में प्रयुक्त सूत्र में आगत 'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष-प्रमा-अर्थक ही है। इस प्रमा के प्रति करण प्रत्यक्ष-प्रमाण है। प्रभाकर ने 'प्रमाण' शब्द का प्रमापरक अर्थ किया है तथा प्रमाणोत्तर क्षण में प्रमाता के द्वारा हानोपादानोपेक्षा की स्थिति को उन्होंने फल माना है। पूर्वोक्त प्रमा अर्थक 'प्रमाण' शब्द की 'प्रमीयते प्रकृष्टं ज्ञायत इति' इस व्युत्पति से निष्पन्न होता है। परन्तु करणार्थक 'प्रमीयते प्रकृष्टं ज्ञायते अनेन' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न प्रमा के प्रति करणभूत प्रमाण उक्त स्थिति में आत्ममनः संयोग ही है। यह संयोग सब प्रकार के ज्ञान में अव्यवहित पूर्व करण है। अतः प्रत्यक्ष स्थल में किसी भी इन्द्रिय या इन्द्रियमनः संयोग को करण माना जाता है। उभयत्र प्रमा का फलत्व निर्विवाद है।

योगज प्रत्यक्ष का निराकरण: चार्वाक एवं मीमांसा प्रस्थानों के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शनों ने किसी न किसी प्रकार के अलौकिक या योगज प्रत्यक्ष की कल्पना की है। इसमें यह मान्यता है कि योग साधनाजन्य शक्ति से एक व्यक्ति दैशिक एवं कालिक रूप से असन्निहित एवं विप्रकृष्ट विषयों का दर्शन करता है। सामान्य प्रत्यक्ष की जो सीमाएँ हैं, योगज प्रत्यक्ष में नहीं रहती जैन दर्शन में सर्वज्ञत्व की जो परिभाषा उपस्थित है वह योगज प्रत्यक्ष की सर्वातिशायी रूप है उनके अनुसार आत्मा स्वभावतः सर्वज्ञ होता है क्योंकि वह चैतन्यरूप ही है। परन्तु कर्मावरण के कारण उसका प्रकाश अवरुद्ध हो जाता है, जिस कारण से जीव अल्पज्ञ दिखाई पड़ता है। सम्यक् चरित्र आदि के नियमपूर्वक अनुपालन से यह आवरण शिथिल एवं अन्त में नष्ट हो जाता है जिससे आत्मा अपने पूर्ण प्रकाश के साथ उपस्थित होती है। यह केवल ज्ञान या सर्वज्ञता की स्थिति है। बौद्ध दर्शन में भी सदृश विचार पाया जाता है। जब साधना में भावना पूर्ण पराकाष्ठा के साथ उपस्थित होती है तब साधक व्यक्ति को अप्रत्यक्ष वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष होने लगता है जिस प्रकार अभ्रक से व्यवहित वस्तु का दर्शन होता है। ऐसा प्रत्यक्ष हथेली पर रखे आँवले के समान स्पष्ट तथा कल्पना आदि से रहित होता है।[13]

योगज प्रत्यक्ष कुमारिल के अनुसार सम्भव नहीं है। सूक्ष्म एवं विप्रकृष्ट वस्तुओं के योगजन्य प्रत्यक्ष की कल्पना दोषपूर्ण है। प्रत्यक्ष सद्विषयक होता है। इस 'सत्' का अर्थ विद्यमानता है अर्थात् वर्तमानकालिक विषयों का ही प्रत्यक्ष हो सकता है। परन्तु वर्तमानकाल की अपेक्षा से विनष्ट अतीतकालिक वस्तुओं तथा अनुत्पन्न भविष्यत्कालिक वस्तुओं का कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है? इस दृष्टि से योगियों का प्रत्यक्ष भी सामान्य प्रत्यक्ष के नियमों से बहिर्भूत नहीं हो सकता। बौद्धों ने जिस प्रकार योगज प्रत्यक्ष के भावनाप्रकर्ष पर बल दिया है उसी प्रकार पतंजलि ने भी ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति में भावनामय विज्ञान की बात कही है कुमारिल के मत में यह भावना वस्तुस्वरूप के सम्यक् ध्यान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[14] उक्त भावना में स्मृति का नैरन्तर्य है। समानविषयक विजातीय वस्तु से रहित स्मृतिसन्तति भावना नाम से कथित है। उक्त योगिप्रत्यक्ष विशिष्ट स्मृतिज्ञान है। स्मृति में अतीत ज्ञान होता है। भावनाप्रकर्ष की स्थिति में स्मृतिरूप में विद्यमान अतीत का ज्ञान भी प्रत्यक्षवत् स्पष्ट अवभासित होता है। इस प्रकार इस योगिप्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष का लक्षण घटित नहीं होगा एवं

यह अयथार्थ ज्ञान होगा।[15] जिस प्रकार लौकिक प्रतिभा प्रत्यक्षादि लक्षण की अपेक्षा नहीं रखती तथा तर्कतः निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होती उसी प्रकार योगिप्रत्यक्ष भी अप्रमाणक सिद्ध होगा।[16] अविद्यमान वस्तु के संयोग से तथाकथित योगज प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व का निराकरण हो जाता है। ऐसा प्रत्यक्ष धर्म को जानने में साधन नहीं बन सकता। इस प्रकार सूत्रोक्त सद् वस्तु का ग्रहण यदि योगिप्रत्यक्ष में अभीष्ट नहीं अपितु अविद्यमान असत् वस्तु का ग्रहण लक्ष्य है तब ऐसा ज्ञान सम्भव नहीं है।[17]

प्रत्यक्ष का विषय: मीमांसा दर्शन में प्रभाकर-मीमांसक पंच प्रमाणवादी तथा भाट्ट-मीमांसक षट् प्रमाणवादी हैं। किसी भी दार्शनिक प्रस्थान में अभ्युपगत तत्त्वव्यवस्था के अनुरूप प्रमाण मर्यादा निरूपित होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ प्रमाण है तथा उसका विचार दार्शनिकों ने सूक्ष्मतापूर्वक किया है। किसी भी ज्ञान में मन की विशिष्ट भूमिका रहती है। मीमांसा चिन्तन में विषय का इन्द्रिय के साथ, विषयगत धर्मों का इन्द्रिय के साथ, इन्द्रिय का मन के साथ तथा मन का आत्मा के साथ- यह सम्बन्धचतुष्टय बाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष में अत्यन्त आवश्यक है। सुखदुःखादि आन्तर वस्तुओं के प्रत्यक्ष में केवल सुख आदि का मन के साथ तथा मन का आत्मा के साथ- यह द्विविध सम्बन्ध ही अपेक्षित है।

जिन पदार्थों का ग्रहण प्रत्यक्ष के द्वारा सम्भव है, उन्हें मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है- (1) द्रव्य, (2) जाति एवं (3) गुण। प्रथम प्रत्यक्षयोग्य पदार्थ में द्रव्य के अन्तर्गत केवल उन्हीं द्रव्यों का ग्रहण हो सकता है जो अपने परिमाणादि के आधार पर इन्द्रियों के विषय बन सकते हैं। इसमें महत् परिमाण के पृथिवी, अग्नि, जल एवं वायु को लिया जा सकता है क्योंकि योगिप्रत्यक्ष मीमांसकों के लिए आदरणीय नहीं है। न्यायसम्मत परमाणु आदि को मीमांसक प्रत्यक्षयोग्य नहीं मानते। न्यायसम्मत परमाणु स्वरूप के विपरीत मीमांसा के त्रसरेणु को ही परमाणु माना गया है जो कि दृश्य है। द्वितीय स्थान पर प्रत्यक्षयोग्य गुण हैं, जिनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व, अपरत्व, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न- ये सभी प्रत्यक्ष के विषय बन सकते हैं। यह इसलिए सम्भव है क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष में मीमांसा-विचार के अनुसार वस्तु का अपने धर्मों के साथ ग्रहण होता है। एतद्भिन्न जाति का प्रत्यक्ष होता है। जाति भी व्यक्ति के साथ प्रत्यक्ष में विषय बनती है।

प्रत्यक्ष के भेद- निर्विकल्प प्रत्यक्ष एवं उसके निराकरण का प्रत्युत्तर: सामान्य रूप से प्रत्यक्ष विचार में द्विविध प्रत्यक्ष को माना गया है- निर्विकल्पक एवं सविकल्पक। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के साथ-साथ उत्पन्न होने वाला निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है तथा बाद में स्मृत्यादि से स्पष्टीकृत स्थिति को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहा जाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के लिए 'आलोचन' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इन भेदों में 'विकल्प' शब्दसमान है जो कि कल्पना शब्द का पर्याय है। 'कल्पना' शब्द का व्यवहार सर्वप्रथम बौद्धतार्किक दिङ्नाग ने अपने प्रमाणसमुच्चय में प्रत्यक्षलक्षणप्रसंग में किया था। उनके अनुसार प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है तथा नामजाति आदि से असंयुक्त है।[18] गौतमसूत्र में प्रत्यक्ष लक्षण में प्रयुक्त 'अव्यपदेश्य' प्रयोग में 'कल्पना' शब्द का संकेतित अर्थ ढूंढा जा सकता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के लिए आगत 'आलोचन' शब्द सर्वप्रथम सांख्यकारिका में एवं प्रशस्तपादभाष्य में दृष्टिगोचर होता है।[19] कुमारिलभट्ट ने इस आलोचन ज्ञान के स्वरूप को बौद्ध, अद्वैत वेदान्ती एवं वैयाकरणों के द्वारा प्रदत्त लक्षण से भिन्न माना है। बौद्धमत में सविकल्पक प्रत्यक्ष है ही नहीं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष से तत्त्वज्ञान सम्भव है एवं वैयाकरण मत में निर्विकल्पक ज्ञान सम्भव नहीं है।

बौद्धदार्शनिक दिङ्नाग ने अपने प्रमाण समुच्चय नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुक्तम्[1] प्रत्यक्ष का लक्षण कल्पना से रहित अर्थात् नाम जाति आदि से रहित (ज्ञान) दिया है। धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में इसे और परिष्कृत करके "कल्पना से रहित अभ्रांत (ज्ञान) प्रत्यक्ष है।"

कल्पनापोढम् अभ्रांतं प्रत्यक्षम्[2]

यह लक्षण दिया। इसमें ज्ञान के विशेषणों में "इन्द्रियार्थजन्य" नहीं रखा गया है क्योंकि, यदि ऐसा करते तो, धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका–के अनुसार यह लक्षण मनोविज्ञान पर घटित नहीं होता, जिसको बौद्धों ने इन्द्रियजन्य न मानते हुए प्रत्यक्ष ही माना है। धर्मोत्तर ने इसे साक्षात्कारि ज्ञान कहा है किन्तु साक्षात्कारि –ज्ञान का अर्थ इन्द्रियाश्रित ज्ञान नहीं लिया जाना चाहिए, अपितु अपरोक्ष या बिना माध्यम के सीधे प्राप्त ज्ञान लिया जाना चाहिए।

कल्पना से रहित जो साक्षात्कार ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है। कल्पना का अर्थ, धर्मकीर्ति के अनुसार, अभिलापसंसर्गयोग्य–प्रतिभासप्रती–ति है। यहां "अभिलाप" का अर्थ वाचक शब्द है । जिस प्रतीति में वाच्य अर्थ के आकार का आभास वाचक शब्द के संसर्ग के योग्य होता है,

1 प्रमाण समुच्चय, दिङ्नाग

2. न्यायबिन्दु, पृ. ८

वह प्रतीति अभिलापसंसर्गयोग्य–प्रतिभासप्रती–ति कही जाती है। हमारी कुछ प्रतीतियां वाचक शब्द से सम्पृक्त आकार वाली होती हैं, जैसे जो व्यक्ति शब्द और अर्थ के संबंध में परिचित है उसके घट अर्थ की कल्पना में घट वस्तु का आभास घट शब्द के संसर्ग सहित होता है। कहींकहीं - प्रतीति वाचक शब्द से सम्पृक्त नहीं होती, फिर भी उसका आभास वाचक शब्द के संसर्ग योग्य होता है, उदाहरणार्थ शब्द– अर्थ के सम्बन्ध को न जानने वाले बालक की कल्पना । लक्षण में "योग्य" शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है जिससे शब्द–अर्थ के सम्बन्ध को न जानने
वाले बालक की कल्पना का भी इसमें ग्रहण हो सके। वाचक शब्द के संसर्ग से युक्त तो अभिलाप संसर्ग योग्य है ही। इस प्रकार योग्य.. शब्द के ग्रहण से लक्षण दोनों प्रकार की प्रतीतियों पर घटित हो जाता है।[3]

अर्थ से उत्पन्न ज्ञान में और कल्पना में अन्तर यह होता है कि अर्थ से उत्पन्न ज्ञान निश्चित आकार वाला होता है, जबकि कल्पना या विकल्प ज्ञान में निश्चित आकार नहीं होता क्योंकि वहां आकार के नियामक हेतु का अभाव होता है।[4] यह प्रश्न किया जा सकता है कि विकल्प ज्ञान अर्थ से उत्पन्न क्यों नहीं होता इसका उत्तर यह है कि वह अर्थ के सानिध्य की अपेक्षा नहीं रखता।

एक शिशु भी जब तक दिखलाई पड़ते हुए स्तन को यह वही है.. इस प्रकार पूर्व दृष्ट रूप में नहीं पहचानता तब तक रोना बंद कर के स्तन में मुख नहीं लगाता। पहले देखी गई और पश्चात् देखी गई वस्तु को एक दिखाने वाला ज्ञान उपस्थित वस्तु विषयक नहीं होता, क्योंकि पहले देखी गई वस्तु वहां उपस्थित नहीं है। जिस ज्ञान का विषय उपस्थित नहीं है वह अर्थ–निरपेक्ष होता है। अर्थ–निरपेक्ष ज्ञान आकार के नियामक कारण के न होने से अनियत आकार वाला होता है। क्योंकि अर्थज्ञान के आकार का नियामक होता है, इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान नियत आकार वाला होता है। अतः वह वाचक शब्द के संसर्ग के योग्य नहीं होता।[5] यहां यह शंका हो सकती है। श्रोत्र ज्ञान शब्द व स्वलक्षण को ग्रहण करता है जिसमें कोई वाच्य है ,कोई वाचक है। अतः यह श्रोत्र ज्ञान सविकल्पक होना चाहिए। योगी का ज्ञान भी सभी शब्द और अर्थ के अवभास होने पर भी संकेत काल में दृष्ट रूप में ग्रहण न किए जाने के कारण निर्विकल्प की होता है। इस प्रकार कल्पना से रहित अर्थात निर्विकल्प ज्ञान एवं भ्रान्तिरहित साक्षात्कारि ज्ञान प्रत्यक्ष है। भ्रान्ति के कारण धर्मकीर्ति नहीं तिमिर (रतौंधी), शीघ्रता से घूमना, नाम से जाना तथा वात आदि का प्रकोप आदि दिए हैं।[6] यह स्पष्ट है कि बौद्ध केवल निर्विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं क्योंकि इससे विकल्प ज्ञान में कल्पना का अंश रहता है। उनका यह मत न्याय –वैशेषिक से संघर्ष का कारण रहा क्योंकि न्याय– वैशेषिकसविकल्पक को भी प्रत्यक्ष मानते हैं।

धर्मकीर्ति के अनुसार चार प्रत्यक्ष

(1) इन्द्रिय ज्ञान ,(2) मनोविज्ञान (3) स्वसंवेदन (4) योगी-प्रत्यक्ष। इन्द्रियाश्रित ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान है। यह शुद्ध संवेदन है। इसके तुरन्त बाद मनोविज्ञान की उत्पत्ति होती है। श्चेरबात्स्की के अनुसार यह इन्द्रिय– संवेदन तथा विकल्प के बीच की कड़ी है।[7] इसकी कल्पना कुछ इस प्रकार है– इन्द्रिय ज्ञान के विषय के प्रथम क्षण से उसी संतान में द्वितीय क्षण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय ज्ञान का द्वितीय क्षण उत्पन्न होता है। जो विषय के द्वितीय क्षण का सहकारि है। इन्द्रिय ज्ञान के समनन्तर प्रत्यय (सन्तान परम्परा में पूर्व क्षण रूप प्रत्यय) रूप से उत्पादित ज्ञान मनोविज्ञान है। यह मनोविज्ञान चक्षु व्यापार के समाप्त होने पर उत्पन्न होता है क्योंकि जब तक चक्षु व्यापार युक्त है तब तक उत्पन्न सभी ज्ञान चक्षु आश्रित होगा।[8] इसके चार कारण हैं–१. आलम्बन प्रत्यय (विषय), २. सहकारी प्रत्यय, उदाहरणार्थ प्रकाश आदि ३. अधिपति प्रत्यय अर्थात् इन्द्रिय, तथा ४. समनान्तर– प्रत्यय अर्थात् इन्द्रिय– ज्ञान का ठीक पहले का क्षण ।

बौद्धों ने प्रत्येक प्रकार के संवेदन का आत्म–संवेदन भी माना है। घट आदि विषयों का ज्ञान "चित्त" कहलाता है। इसकी सुख आदि विशेष अवस्था का ग्रहण कराने वाला ज्ञान "चैत्त" कहलाता है। "चित्त" और "चैत्त" दोनों का ही आत्मसंवेदन होता है। रूपादि का संवेदन होते ही साथ–साथ सुख आदि के रूप में उसकी अनुभूति होती है। यही आत्मसंवेदन है। यह भी कल्पना रहित एवं निर्भ्रांत है, अतः प्रत्यक्ष है।[9]

चतुर्थ प्रत्यक्ष योगी ज्ञान है। अतः धर्मकीर्ति की परिभाषा के अनुसार सत्य अर्थ की भावना के प्रकर्षपर्यन्त से उत्पन्न ज्ञान योगी ज्ञान है।[10] सत्य अर्थ वह है जो प्रमाणों द्वारा ग्रहण किया गया हो, जैसे चार आर्य सत्य)दुःख, दुखसमुदय, दुःखनिरोध, निरोधोपाय।(सत्य अर्थ की बारबार चित्-त में स्थापना करना भावना है। भाव्यमान अर्थ को भाषित करने वाले ज्ञान में स्फुटाभत्व स्)ष्टता(का आरम्भ होना भावना का प्रकाश है। स्ष्टता में कुछ कमी रहने पर प्रकर्ष– पर्यन्त

---

[3] न्यायबिन्दु, पृ. १०

[4] न्यायबिन्दु, पृ. १०–११

[5] न्यायबिन्दु

[6] .वही

[7]. Buddhist Logic. Part 1, P.162, 2 Vols., Dover Publications, New York. 1956 (Stcherbatsky, T.)

[8]. न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दु–टीका , पृ.१३

[9] न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दु–टीका , पृ.१३

[10]. भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति । न्यायबिन्दु, पृ.१४.

होता है, क्योंकि प्रकर्ष का तारतम्य तभी तक होता है जब तक स्फुटाभत्व अपूर्ण रहता है। उसके पूर्ण होने पर प्रकर्ष की गति समाप्त हो जाती है। अतः पूर्णावस्था से पहली अवस्था स्फुटाभत्व प्रकर्ष–पर्यंत कही गई है। उस प्रकर्ष–पर्यंत द्वारा भाव्यमान अर्थ का समीपस्थ अर्थ के समान स्फुटतर आकार को ग्रहण कराने वाला ज्ञान योगि– प्रत्यक्ष कहलाता है। धर्मोत्तर के अनुसार योगी भावना– प्रकर्ष की अवस्था में वस्तु को अभ्रक से व्यवहित सा देखता है और योगी–प्रत्यक्ष में उसे हस्तामलकवत् देखता है। यह ज्ञान भी स्फुटाभ होने के कारण निर्विकल्प और प्रमाण द्वारा निश्चित अर्थ का ग्राहक होने से अभ्रांत है, अतः प्रत्यक्ष है। [11]

दिङ्नाग के द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष लक्षण में धर्मकीर्ति ने अधिक स्पष्टता के लिए 'अभ्रान्त' पद का योग किया है।[20] यह अभ्रान्तत्व सब प्रकार के यथार्थ ज्ञान का सामान्य धर्म है। 'कल्पना' शब्द का अर्थ अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीति किया गया है। शब्द, अर्थ एवं उनके सम्बन्ध को जानने वाला कोई व्यक्ति जब किसी पदार्थ का ज्ञान करता है तब यह ज्ञान शब्द सहकृत नहीं होता, जबकि शब्द के द्वारा अभिहित होने की क्षमता रखता है। धर्मोत्तर के अनुसार प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो कि मात्र वस्तु का अनुरूप है, परन्तु कल्पना ऐसा वस्तु बाह्य मानसिक भाव है जिसका वस्तु के साथ कोई तात्त्विक सम्बन्ध नहीं होता। यद्यपि एक बालक शब्दव्यवहार से अनभिज्ञ है फिर भी उसके द्वारा मातृस्तन का ज्ञान कल्पना है न कि प्रत्यक्ष। यदि इस बालक के ज्ञान में यह न होता कि ये ही स्तन पहले उसकी क्षुधानिवृत्ति में सहायक हुए हैं, वह कभी उनका पान नहीं करता। अतः कहना होगा कि बालक के शब्दरहित ज्ञान में कल्पनामिश्रण है। अतः यह मात्र प्रत्यक्ष नहीं। सर्ववित् शाब्दिक प्रयोग तथा वैचारिक तत्त्व से असंस्पृष्ट मात्र वस्तु को विषयित करने वाला ज्ञान बौद्धमत में प्रत्यक्ष है। इसका विषय सम्बद्ध वस्तु का असामान्य स्वरूप या स्वलक्षण है।

वस्तु का स्वरूप बौद्धन्याय से द्विविध है- स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण। सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष का विषय नहीं अपितु अनुमान का विषय है एवं स्वलक्षण मात्र प्रत्यक्ष का विषय है। इस प्रकार प्रमाण व्यवस्था बौद्ध दर्शन में मान्य है। दूर से देखने पर किसी वस्तु का अस्पष्ट ग्रहण होता है, निकट से देखने से यह ग्रहण स्पष्ट होता है। वह वस्तु जिसका दूर एवं निकट से अस्पष्ट एवं स्पष्ट ग्रहण होता है, परमार्थसत् वस्तु है तथा उसका अनारोपित रूप इस प्रकार के प्रत्यक्ष का विषय है। सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं है अपितु उसका ग्रहण वैचारिक धरातल पर होता है।

अद्वैत-वेदान्त में अनुभव का मुख्य विषय सन्मात्र के रूप में शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है। प्रत्यक्ष का विषय न तो स्वलक्षण है न ही सामान्यलक्षण। स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण की व्यवस्था प्रपंच के अन्तर्गत है। सविकल्पक स्थिति में जो भी कुछ ज्ञान उत्पन्न होता है वह असंस्कृत मन का प्रसूत है तथा हेय है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रत्यक्ष है जिससे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। अनन्त विशेषों के रूप में नानात्व का स्वीकार अनादि अविद्या का ही कार्य है। पारमार्थिक रूप से एक अद्वितीय ब्रह्म ही अन्तिम विषय है जो कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से गम्य है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय न तो सामान्य है न ही विशेष, अपितु शुद्ध सता मात्र है।[21]

बौद्ध एवं अद्वैती मत के विपरीत वैयाकरणों ने यह स्वीकार किया है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रत्यक्ष है तथा अभिलापसंसर्गरहित निर्विकल्पक ज्ञान असम्भव है न केवल प्रत्यक्ष अपितु सभी प्रकार का ज्ञान शब्दान्वित होने से सविकल्पक होता है। वैयाकरण मानते हैं कि संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो बिना शब्दों के हो जाये। सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान शब्दों से ही अनुविद्ध होकर भासित होता है।[22]

इस मत में विचार एवं भाषा को पृथक् नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि बालक एवं पशु में दृष्ट-व्यवहार सविकल्पक ज्ञानपरक होते हैं। संस्कार के रूप में सूक्ष्म वाक् की स्थिति को शब्द-व्यवहार-ज्ञानरहित बालकों में भर्तृहरि स्वीकारते हैं। इस वैयाकरण विचार का प्रत्युत्तर कुमारिल ने दिया है, उनके अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का निराकरण अनुभवविरुद्ध है। यह वस्तु का मात्र भान है जो कि परवर्ती क्षण में स्मृत्युत्थित विधेयात्मक कल्पना से संयुक्त हो जाता है। अतः इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के उत्तर क्षण में उत्पन्न प्रथम ज्ञान निर्विशेष होता है जिसका सम्बन्ध मात्र शुद्ध वस्तु से होता है।[23] एक अन्य बात यह भी है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अभाव में सविकल्पक प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं होगा। सविकल्पक-स्थिति में वस्तु का नामजात्यादि ज्ञान भी उपस्थित होता है। यह नाम एवं जाति प्रमाता पुरुष के चित्त में संस्कार के रूप में रहते हैं तथा इस संस्कार के उद्बोध से इस नामजात्यादि का स्मृतिज्ञान होता है।[24]

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय के सम्बन्ध में प्राभाकर मत कुछ भिन्न है। इस मत में बौद्धों के समान स्वलक्षण प्रत्यक्ष को ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना गया है अपितु यह स्वीकार किया गया है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत विषय की जाति का एक प्रकार से बोध उपस्थित होता है। भाट्ट एवं प्राभाकर मत में भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की अवधारणा में उक्त बिन्दु पर मतभेद हैं। भाट्ट मत में इस स्थिति में न तो जाति का ज्ञान और न ही व्यावर्त्तक विशेष

[11] भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएं (महेश भारतीय)

का ज्ञान होता है, परन्तु केवल विषय-व्यक्ति का ही आभास होता है जिसमें सामान्य एवं विशेष दोनों संयुक्त रहते हैं।[25] प्राभाकरों का भी यह मत नहीं है कि विषय की जाति का मात्र ग्रहण होता है। उनके मत में भी विषय का एक व्यक्ति के रूप में ग्रहण होता है। प्राभाकरों का मत सामान्य ज्ञान एवं विशेष ज्ञान के मध्यवर्ती धरातल पर स्थित है जिसके अनुसार निर्विकल्पक सामान्य एवं विशेष दोनों को विषयित करता है। परन्तु इतना मात्र भेद है कि 'यह विषय इस जाति का है'- इस प्रकार स्फुट ज्ञान उत्पन्न नहीं होता क्योंकि अन्य वस्तुओं के उपस्थित होने पर ही सम्बद्ध वस्तु का व्यक्तिगत भेद ज्ञान होता है तथा जाति धर्म के स्फुट ज्ञान होने पर ही 'यह व्यक्ति इस जाति का है'- इस प्रकार प्रकट ज्ञान उत्पन्न होता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष: जब आलोचित विषय को व्याख्यायित किया जाता है तथा पूर्वकृत अनुभव के आलोक में परखा जाता है तब 'यह मनुष्य है', 'यह गाय है' आदि स्पष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है। मात्र 'यह' के रूप में होने वाले निर्विकल्पक ज्ञान को 'मनुष्य है', 'गाय है' आदि के रूप में परवर्ती स्थिति में उद्देश्य-विधेय सम्बन्ध से जोड़ा जाता है। यही सविकल्पक प्रत्यक्ष का क्षेत्र है। निर्विकल्पक ज्ञान एवं उसका विषय एक एवं निरवयव होता है परन्तु मन के द्वारा उसकी अवयवात्मक व्याख्या की जाती है जिससे आगे 'यह गाय है' इस प्रकार का वाक्यात्मक ज्ञान उपस्थित होता है। सविकल्पक अवधारणा में अवधार्य समस्त तत्त्व विषय के अंग होते हैं न कि प्रमाता के मन के। यद्यपि उक्त अवधारणा में स्मृति की भूमिका अनिवार्य है तथापि ये समस्त सामान्य एवं विशेष धर्म विषयगत ही होते हैं। ये मात्र कल्पित नहीं है अपितु विषय में इनका आविष्कार किया जाता है। स्मृति की सहायता से इतना मात्र होता है कि इन तत्त्वों का प्रत्यक्ष अन्य वस्तुओं में हुआ या नहीं। इस प्रकार उत्पन्न होने वाला ज्ञान निर्विकल्पक की भाँति प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रक्रिया में की भी विषय एवं इन्द्रियों के मध्य संयोग का अभाव नहीं होता। जब पुरोवर्ती 'गो' वस्तु का प्रत्यक्ष होता है कि शुक्ल है अथवा कृष्ण है तब द्रष्टा पुरुष की चक्षुरिन्द्रिय, जो कि इस प्रत्यक्ष का साधन है, निर्विकल्पक स्थिति की भाँति विषयसन्निकृष्ट तथा सक्रिय रहती है। इस तथ्य के आधार पर बौद्धों का सविकल्पक प्रत्यक्ष-खण्डन निरस्त हो जाता है। केवल मात्र 'गो' एवं 'शुक्ल' शब्दों के संस्कारोद्बोध से एवं ज्ञान के विकल्पित हो जाने से सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षभिन्न मानना संगत नहीं होगा। इसका मुख्य साधन इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने से इसे प्रत्यक्षकोटि में ही रखा गया है। प्रत्यक्ष को इसीलिए प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता क्योंकि वह मात्र इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पर आधारित है परन्तु उसे प्रत्यक्ष इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसकी प्रक्रिया में विषय के सम्बन्ध में इन्द्रियों का साक्षात् व्यापार विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में अन्यतम साधन के रूप में रहने वाली स्मृति इन्द्रिकार्य न होकर आत्मा का कार्य है परन्तु उस स्मृति के कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रत्यक्षत्व बाधित नहीं होता। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष निर्विकल्पक स्थिति से लेकर सविकल्पकस्थितिपर्यन्त पूर्णतया व्याप्त रहता है।

प्राभाकर मत में सविकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में भाट्ट मत से कुछ भेद पाया जाता है। भाट्ट मत में जबकि निर्दिष्ट विषय का एक व्यक्ति के रूप में ज्ञान इतर वस्तुओं की अपेक्षा से होता है, प्राभाकरों को मान्य नहीं है। उनके मत में इन्द्रिय-सन्निकृष्ट विषय ही एकमात्र उपस्थित होता है जो कि सविकल्पक प्रत्यक्ष का विषय है। प्रत्यक्ष का कर्त्ता आत्मा है जो कि अपने स्वभाव से समस्त प्रत्यक्ष योग्य विषयों का ग्रहण करता है। इस प्रकार आत्मा का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होने के पश्चात् उसके मन में अन्य तत्त्व भी आ जाते हैं जिसके द्वारा सम्पृक्त विषय के सादृश्य एवं भेद का पता चलता है। इस स्थिति में सविकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। प्रत्येक सविकल्पक प्रत्यक्ष में स्मृति अनिवार्य है। इसी तत्त्व को गौतम ने न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष को अव्यपदेश्य के रूप में परिभाषित किया है क्योंकि व्यपदेश्य स्मृति का विषय है। स्मृति अन्तर्भावित होने से प्राभाकर मत में प्रत्यक्ष का धर्म नहीं होता निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्षों के विषय समान हैं। सविकल्पक की विशेषता इसी में है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में अनुपस्थित किन्तु निर्दिष्ट विषय से सम्बद्ध अनेक तत्त्वों का स्फुट ज्ञान इसमें होता है।

मीमांसा दर्शन में सुखदुःखादि का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है तथा मन के सन्निहित रहने पर ही ऐसा ज्ञान सम्भव होता है। कुमारिलभट्ट ने मन को एक इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया है।[26] कुमारिल ने स्पष्टतः कहीं भी विभिन्न ज्ञानों की उत्पत्ति के क्रम को दृष्टि में रखते हुए मन को परिभाषित नहीं किया है। सामान्यतः अनेक विषयों के साथ सम्बद्ध इन्द्रियों का सम्पर्क युगपत् हुआ करता है तथापि सभी विषयों का ज्ञान एक साथ न होकर एक निर्दिष्ट क्रम की अपेक्षा रखता है। मन को अणु तथा ज्ञानोत्पत्ति क्रम में निमित्तभूत हेतु के रूप में नैयायिकों ने परिभाषित किया है।[27] इस मत का कहीं पर कुमारिल के द्वारा स्पष्ट खण्डन भी उपलब्ध नहीं होता जिससे यह कहा जा सकता है कि कुमारिल इस चिरन्तन न्यायमत से सहमत थे।

अन्तरिन्द्रिय मन के सम्बन्ध में भी न्याय-वैशेषिक-मत में मीमांसा-मत का पार्थक्य लक्षित होता है। न्याय में मन को अभौतिक माना गया है तथा यह सर्वविषयावगाही होता है। परन्तु मीमांसा में मन को पृथिवी आदि तत्त्वों से अन्यतम

स्वरूप वाला अथवा सर्वथा भिन्न माना गया है। वह आत्मा एवं उसके गुणों में स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होता है। मात्र बाह्य रूपादि विषयों में उसकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं है।[28]

सन्दर्भ

1. सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्। मीमांसा सूत्र, 1.1.4
   सति इन्द्रियार्थसम्बन्धे या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते, तत्प्रत्यक्षम्। मीमांसा शाबरभाष्य, 1.1.4
2. न चाप्येन सूत्रेण प्रत्यक्ष लक्ष्यते स्फुटम्। तदाभासेति तुल्यत्वात् स्वप्नज्ञानैकवर्जनात्।।
   तद्धीन्द्रियार्थसंयोगव्यापारेण विना भवेत्। केनचित् सम्प्रयोगे तु भ्रान्त्यादिः स्यान्नियोगतः।। मीमांसा श्लोकवार्तिक, 1.1.4, श्लो., 10-11
3. प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकारणत्व मिति। मी.शा.भा., 1.1.4
4. भारतीय दर्शन, भाग-1
5. असामर्थ्यं च मत्वास्य वृत्तिकारेण लक्षणे।
   तत्संप्रयोग इत्येवं पाठान्तरमुदाहृतम्।।' मी. श्लोकवा., 4.23
6. किं पुनराभासाऽसंकीर्णं प्रत्यक्षलक्षणम्? तद्दर्शयति- तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्- यदाभासं विज्ञानं तेनेन्द्रियाणां संप्रयोगे यद्विज्ञानं तत् सत्प्रत्यक्षम्। शास्त्रदीपिका, पृ. 135
7. तत्र इन्द्रियसन्निकर्षजं प्रमाणं प्रत्यक्षम्। मानमेयोदय, पृ. 11
8. तत्संप्रयोगजत्वाऽतत्संप्रयोगजत्वे कथं विवच्यिते...तत्प्रमाणम्,इतरच्चाऽप्रमाणम्। शा.दी., पृ. 139
9. अपरोक्षावभासज्ञानस्येन्द्रियाधीनतया रूपादिज्ञानेषु व्याप्तिदर्शनात्
   सुखादिविषयमपरोक्षज्ञानमिन्द्रियमनुमापयति। शा.दी., पृ. 98
10. यत्संप्रयुक्तेऽर्थे विशदावभासं ज्ञानं जनयति तदिन्द्रियम्। शा.दी., पृ. 100
11. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षकम्। तुलना, न्यायसूत्र, 1.1.4
12. साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्। प्रकरण पञ्चिका, पृ. 146
13. अभ्रकव्यवहितमिव भदा भाव्यमानं वस्तु पश्यति सा प्रकर्षपर्यान्तावस्था।
   करतलामलकवद् भाव्यमानस्यार्थस्य यद् दर्शनं तद् योगिनः प्रत्यक्षम्। न्यायबिन्दु टीका, 1.11
14. मा भूतामितितेनाह लोकसिद्धं सदित्ययम्। न लोकव्यतिरिक्तं हि प्रत्यक्षं योगिनामपि।। मी. श्लोकवा., 4.28
15. प्रत्यक्षत्वेन तस्यापि विद्यमानोपलम्भनम्।
   सत्संप्रयोगजत्वं वाऽप्यस्मत्प्रत्यक्षवद् भवेत्।। मी. श्लोकवा., 4.29
16. लौकिकी प्रतिभा यद्वत्प्रत्यक्षाद्यनपेक्षिणी।
   न निश्चयाय पर्याप्ता तथा स्याद्योगिनामपि।। मी. श्लोकवा., 4.32
17. मी. श्लोकवा., 35-36
18. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्। प्रमाणसमुच्चय, का., 3
19. रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृतिः। सांख्यकारिका, 28
   तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्। प्रशस्तपाद भाष्य, पृ. 149
20. प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्। न्यायबिन्दु, 1.5
21. मी. श्लोकवार्तिक, 4.114-115
22. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
   अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्दने भासते।। भर्तृहरि, वाक्यपदीय, 1.123
23. अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
   बालमूमादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्।। मी. श्लोकवा., 4.112
24. मी. श्लोकवा., 4.112
25. न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते। तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते।। मी. श्लोकवा., 4.113
26. मनस्त्विन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षा धीः सुखादिषुः।
   मनसा सम्प्रयुक्तो हि तान्यात्मा प्रतिपद्यते।। मी. श्लोकवा., 4.83
27. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्यायसूत्र, 4.83
28. शास्त्रदीपिका, पृ. 100